



दैनिक भास्कर

Date: 20-10-26

तकनीक की दौड़ में दुनिया के साथ चलना जरूरी है

संपादकीय

सुरक्षा शोध की जिम्मेदार देश की प्रीमियर संस्था डीआरडीओ ने कहा है कि शोध के जरिये स्वदेशी सेमीकंडक्टर उत्पादन चेन के प्रमुख चरणों में शामिल हुए बगैर भारत के लिए भविष्य के टेक्नोलॉजी-सक्षम युद्धों में मुकाबला मुश्किल होगा। भारत के पास सेमीकंडक्टर डिजाइनिंग के क्षेत्र में दुनिया का 20% टैलेंट पूल है, लेकिन सेमीकंडक्टर - डोमेन में केवल 7% जीसीसी (ग्लोबल कैपेबिलिटी सेंटर) हैं और वे भी बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेशंस के हैं, यानी डिजाइनिंग के पेटेंट के वे मालिक होते हैं। उत्पादन श्रृंखला में प्रथम-स्तर के शोध में भारत अभी अमेरिका, चीन, ताइवान, साउथ कोरिया और यूरोप से बहुत पीछे है। यह एक बड़ी सुरक्षात्मक दुर्बलता है। एनवीडिया, क्वालकॉम, एएमडी और इंटेल जैसी कंपनियां भारत में मौजूद तो हैं, लेकिन वे भारतीय टैलेंट का ही इस्तेमाल कर रही हैं। प्रोडक्ट अन्य देशों में बन रहा है। अनेक चीजों के लिए हमें आयात पर निर्भर रहना होता है। डीआरडीओ की चिंता इसलिए वाजिब है कि आधुनिक रडार, इलेक्ट्रॉनिक - सघन युद्ध, सैटेलाइट्स, मिसाइल्स, सुरक्षित-संचार सिस्टम और एआई-सक्षम कमांड सिस्टम की भावी युद्धों में बड़ी भूमिका होगी। विदेशी साजों सामान पर आश्रित रहने से हमें मुश्किलों का सामना करना पड़ सकता है। चिंता यह है कि आज भी शोध पर जीडीपी का मात्र 0.65% ही खर्च हो रहा है।

Date: 20-10-26

पीछे लौटकर नगद भुगतान के दौर में जाना अब मुमकिन नहीं

डॉ. अरुणा शर्मा, (प्रैक्टिशनर डेवलपमेंट इकोनॉमिस्ट और इस्पात मंत्रालय की पूर्व सचिव)

वित्तीय क्षेत्र में डिजिटलीकरण के माध्यम से हमें कई सुविधाएं मिली हैं। इसके कारण ही क्लाइंटों के खाते मेंटेन करने, उनके लेन-देन का हिसाब रखने, उन्हें विभिन्न वित्तीय उत्पाद ऑनलाइन देने, उनके खाते अपडेट रखने और डिजिटल लेनदेन को सक्षम बनाने जैसे बैंकिंग कार्य आसान हुए हैं। इसका उद्देश्य डिजिटल ट्रांसफर के जरिए कम नकदी की जरूरत वाली व्यवस्था की ओर बढ़कर वित्तीय संस्थानों के कामकाज को सरल बनाना भी था।

अंतरराष्ट्रीय मनी ट्रांसफर की सुविधा भी डिजिटल माध्यम से उपलब्ध कराई गई, ताकि ग्राहकों को बैंकों तक जाने की जरूरत न पड़े। इससे लगभग 9 हजार बैंक शाखाओं को बंद करने या मर्ज करने और इतनी ही शाखाओं को ग्रामीण क्षेत्र में बढ़ाने में मदद मिली। सबसे महत्वपूर्ण बात यह रही कि करंसी नोट छापने की जरूरत कम हो गई।

ये सारे प्रयास वित्तीय संस्थानों के कामकाज में बदलाव लाने, उनमें लोगों की आवाजाही कम करने और आमने-सामने की मुलाकातें घटाने के लिए किए गए थे। इसके बाद मोबाइल बैंकिंग को बढ़ावा मिला, जिसने यूपीआई को सम्भव बनाया। वित्तीय संस्थानों ने अपनी कारोबारी प्रक्रियाओं को आसान बनाने के लिए टेक्नोलॉजी का प्रभावी ढंग से इस्तेमाल किया। और हां, इस व्यवस्था की अपनी एक लागत भी है।

फिर डाकघरों और सहकारी बैंकों का भी डिजिटलीकरण हुआ और सारे वित्तीय संस्थानों के भीतर और उनके बीच के लेनदेन के डिजिटल फुटप्रिंट तैयार होने लगे। फिनटेक की टेक्नोलॉजी की लागत, मर्चेन्ट डिस्काउंट रेट (एमडीआर) और क्रेडिट कार्ड की पॉइंट ऑफ सेल (पीओएस) मशीनों ने वित्तीय संस्थानों को खुदरा लेन-देन में सक्षम बनाया। इससे डिजिटल भुगतान अंतिम छोर तक पहुंच गया।

लेकिन अब बहस का मुद्दा यह है कि वित्तीय संस्थानों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए डिजिटलीकरण पर जो खर्च हुआ- जिसका लाभ अंततः उपभोक्ता तक ही पहुंचा है- उसकी लागत कौन वहन करे? इस लागत को खर्च के रूप में दर्ज किया जाता है और इसलिए इसकी पूरी भरपाई भी होनी है। लेकिन इस प्रक्रिया में उस भारी बचत को अनदेखा किया जा रहा है, जो करंसी नोट छापने की जरूरत घटने, खातों को अपडेट रखने में आसानी होने, क्लाइंटों से आमने-सामने मिलने की आवश्यकता घटने आदि सुविधाओं से हुई है। इन सबने पारदर्शिता बढ़ाई है और रीयल-टाइम अपडेट आसान हुआ है।

इस सबसे रिजर्व बैंक समेत अन्य वित्तीय संस्थानों को भारी बचत हुई है। इसलिए इस व्यवस्था को बाधित करने के बजाय यह जरूरी है कि इस लागत को आरबीआई और बैंकिंग संस्थान स्वयं वहन करें। एमडीआर की लागत को व्यापारियों पर डालने के खिलाफ कड़ी प्रतिक्रियाएं सामने आ रही हैं। 83% दुकानदार इसका भुगतान करने से इनकार कर रहे हैं। आशंका यह भी है कि यदि यह लागत उपभोक्ताओं पर डाली गई, तो 86% उपभोक्ता यूपीआई के जरिए भुगतान से बचने लगे। इससे खुदरा भुगतान के क्षेत्र में डिजिटलीकरण से मिली सफलता लड़खड़ा जाएगी।

व्यापारियों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पहले से दिखाई देने लगा है। उन्होंने दो हजार रुपए से अधिक के भुगतान यूपीआई से लेना बंद कर दिया है और नकद मांगने लगे हैं। यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि डिजिटल भुगतान को प्रोत्साहित करने के प्रयासों को नुकसान न पहुंचे। टेक्नोलॉजी की लागत उन संस्थानों को वहन करनी चाहिए, जिन्हें इससे लाभ मिलता है- यानी आरबीआई और बैंक। उपलब्ध विकल्पों पर ध्यान देना चाहिए। नोटबंदी के बाद से बाजार में नकदी 15 लाख करोड़ से बढ़कर 41 लाख करोड़ रुपए हो गई है, यानी लगभग तीन गुना। ऐसे

में डिजिटल भुगतान में एमडीआर का वजन ऐसे कारोबारियों पर नहीं डालना चाहिए, जिनके कारोबार में इसकी गुंजाइश ही नहीं है।

भले ही उपभोक्ताओं पर सीधे कोई शुल्क लगाने की वकालत नहीं की जा रही हो, लेकिन व्यापारियों के सामने दो ही विकल्प बचते हैं- या तो वे इसकी कीमत खुद वहन करें या फिर से नकदी लेन-देन शुरू कर दें। तीसरा विकल्प यह है कि वे इस लागत को उपभोक्ता पर डाल दें। लेकिन क्या ये वांछनीय विकल्प हैं?



दैनिक जागरण

Date: 20-10-26

संवैधानिक संस्थाओं की साख पर हमला

शिवकांत शर्मा, (लेखक वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

राष्ट्रीय संस्थाओं की साख भी मोती और मनुष्य की आब जैसी होती है कि एक बार गई तो बहाल नहीं होती। विशेषकर संवैधानिक और नियामक संस्थाओं की साख, जिन पर लोकतंत्र की इमारत टिकी है। देश की स्थिरता के लिए इनकी साख बनाए रखना आवश्यक है, लेकिन लोकतंत्र में सत्ता दो ही तरह से हासिल की जा सकती है। सरकार की विफलताएं उजागर करते हुए जनता के सामने बेहतर नीतियां रखकर या फिर जिन संवैधानिक संस्थाओं के सहारे देश चल रहा है, उनके कामकाज की वैधता पर सवाल उठाकर। विपक्ष की रणनीति यही लगती है। उसका उद्देश्य तथ्य और प्रमाण रखे बिना संवैधानिक संस्थाओं के निर्णयों पर जनता के मन में केवल संदेह पैदा करना है। जैसे अदालतों में बचाव पक्ष अभियोग पक्ष के आरोपों पर संदेह पैदा करता है। उसे आशा है कि बाकी का काम जूरी की तरह जनता कर देगी और उनकी राह आसान हो जाएगी।

मोदी सरकार की वैधता को चुनौती देने के लिए संवैधानिक संस्थाओं के काम पर सवाल उठाने की रणनीति राहुल गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस और उसके गठबंधन ने उसके पहले कार्यकाल से ही अपना ली थी। नोटबंदी और फ्रांस के साथ हुए राफेल विमान सौदे पर विपक्ष ने महालेखापरीक्षक कैंग पर आडिट रिपोर्ट सरकार की सुविधानुसार जारी करने के आरोप लगाए। राफेल सौदे में घूसखोरी साबित न होने पर भी राहुल गांधी न केवल 'चौकीदार चोर है' जैसे नारे लगाते रहे, बल्कि यह आभास देने की कोशिश भी की कि जैसे सर्वोच्च अदालत उनके आरोपों से सहमत थी। उसके बाद पूर्व मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई को राज्यसभा के लिए मनोनीत करने को लेकर विवाद उठा। उसे राम मंदिर मामले में निर्णय देने का पुरस्कार बताया गया। सरकार ने रंगनाथ मिश्रा को राज्यसभा में निर्वाचित कराने जैसे पुराने निर्णयों की याद दिलाकर बचाव करने की कोशिशें कीं, लेकिन उनसे सर्वोच्च न्यायालय की साख पर उठे संदेह कितने दूर हो पाए, यह कहना कठिन है।

भारत दुनिया के उन मुट्ठी भर बड़े लोकतांत्रिक देशों में प्रमुख है, जहां चुनाव आयोग जैसी संस्था राष्ट्रीय स्तर पर सारे चुनाव कराती है और स्वायत्त रूप से काम करती है। इसलिए उसका निरंतर या फिर अप्रत्याशित हार से हताश विपक्ष के निशाने पर आना स्वाभाविक है। यहां उल्लेखनीय है कि 2023 तक चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति प्रधानमंत्री और उनके मंत्रिमंडल की सिफारिश से होती थी, जिसकी वजह से आयोग पर सरकार के दबाव में काम करने के आरोप लगते रहते थे। मार्च 2003 में सर्वोच्च न्यायालय की पांच सदस्यीय पीठ ने सरकारी सिफारिश से नियुक्ति की परंपरा को समाप्त करते हुए नियुक्ति के लिए एक तीन सदस्यीय अंतरिम समिति का गठन किया, जिसमें मुख्य न्यायाधीश, प्रधानमंत्री और लोकसभा में नेता-प्रतिपक्ष को शामिल किया गया। मोदी सरकार ने उसी साल दिसंबर में विधेयक पारित करके इस समिति में मुख्य न्यायाधीश की जगह प्रधानमंत्री द्वारा नामित कैबिनेट मंत्री को दे दी। सरकार का यह कदम चुनाव आयोग की निष्पक्षता पर विपक्ष के संदेह की जड़ बन गया।

ऐसे माहौल में बिहार, बंगाल और उत्तर प्रदेश जैसे राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण राज्यों के चुनावों से पहले मतदाता सूचियों के शोधन की एसआईआर प्रक्रिया में पारदर्शिता की कमी ने संदेह की आग में घी का काम किया। लोकतंत्र में जितना जरूरी जनादेश की वैधता के लिए अवैध मतदान को रोकना है, उतना ही जरूरी वैध मतदाताओं के मताधिकार को सुनिश्चित करना होता है। कटे नामों में मृतकों और विस्थापितों को छोड़कर कितने अवैध और घुसपैठिए थे, इसका आंकड़ा आयोग अभी तक नहीं दे पाया। हालांकि, हजारों वैध वोटर्स के नाम कटने के मामले सामने आए हैं, जिनमें तमाम गणमान्य लोग भी हैं। आनलाइन वोटर पंजीकरण फार्म में अर्हता प्रमाणित करने के लिए अतिरिक्त सूचना के अनुच्छेद में तीनों आयुक्तों की सहमति थी या नहीं इसे लेकर और सूची से नाम कटवाने के लिए कोई कितने फार्म भर सकता था, इसे लेकर संदेह बना हुआ है। पता नहीं आयोग यह जानते हुए भी क्यों चुप्पी साधे है कि जनादेश की विश्वसनीयता उसकी साख पर टिकी है और सरकार की साख जनादेश की विश्वसनीयता पर, जिसके बिना कोई भी सरकार सुधार करना तो दूर सामान्य कामकाज भी नहीं चला सकती।

साख का यह संकट चुनाव आयोग और सर्वोच्च न्यायालय तक ही सीमित नहीं है। संसद में विपक्षी हो-हल्ले और नारेबाजी की वजह से देश के लिए आवश्यक आर्थिक और सामाजिक सुधारों को छोड़ गंभीर चुनौतियों और समस्याओं पर भी कोई सार्थक चर्चा नहीं हो पाती। ऐसे कैसे विकसित राष्ट्र का सपना पूरा हो सकेगा? राष्ट्रीय प्रवेश परीक्षाओं के लिए गठित परीक्षा एजेंसी एनटीए की साख पेपर लीक न रोक पाने के कारण धूल में मिल चुकी है। अदाणी समूह की कथित अनियमितताओं पर सट्टा कंपनी हिंडरसन की रिपोर्ट के बाद शेयर बाजार नियामक संस्था सेबी को निशाना बनाया गया और सेबी प्रमुख का इस्तीफा मांगा गया। अदाणी समूह के शेयर तो साल भर में उबर गए, मगर इस विवाद के बाद से विदेशी निवेशक भारतीय बाजारों से निरंतर पैसा निकाल रहे हैं।

यदि विपक्ष की रणनीति सरकार और संस्थानों की साख गिराने की है तो सरकार को साख बहाल करने के उपाय करने चाहिए, क्योंकि साख गिरने से जनता और निवेशकों दोनों का भरोसा डिगता है। भरोसा टूटने पर निवेश और रुपया गिरने, पूंजी महंगी होने, महंगाई बढ़ने और अस्थिरता फैलने का खतरा बढ़ता है, जो विकास की गाड़ी

पटरी से उतार सकता है। संवैधानिक संस्थाओं की साख बचाने और बहाल करने का दायित्व सरकार का है। वह चाहे तो एसआईआर का काम पारदर्शी तरीके से निपटा कर संसद और विधानसभाओं को भंग कर एक साथ ईवीएम और मतपत्रों से चुनाव करा सकती है, जिससे चुनाव आयोग और जनादेश की साख बहाल हो सके और आए दिन चुनावों की मुसीबत से छुटकारा मिले। राष्ट्रीयता रजिस्टर और समान नागरिक संहिता और आर्थिक सुधार के मुद्दों पर जनमत संग्रह कराया जा सकता है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 20-10-26

गरीबी के भंवर में धकेल रहा इलाज का खर्च

वाचस्पति शुक्ला, संतोष कुमार दास, (वाचस्पति सरदार पटेल आर्थिक एवं सामाजिक अनुसंधान संस्थान में तथा संतोष कुमार इंस्टीट्यूट ऑफ रूरल मैनेजमेंट, आणंद में सहायक प्रोफेसर हैं)

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एनएसएस) के 80वें दौर के हालिया निष्कर्ष, भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता और इलाज के खर्च को लेकर कई गंभीर सवाल खड़े करते हैं। जनवरी से दिसंबर 2025 के बीच किए गए इस सर्वेक्षण में दो प्रमुख रुझान सामने आए हैं। पहला, देश में बीमारियों से ग्रस्त लोगों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है और दूसरा, इलाज के लिए लोगों की निर्भरता अब भी महंगे निजी स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं पर बनी हुई है।

बीमारियों का बढ़ता स्तर: सर्वेक्षण के अनुसार, पिछले 15 दिनों के दौरान किसी बीमारी से पीड़ित होने की जानकारी देने वाले लोगों का अनुपात 75वें दौर के सर्वेक्षण (जुलाई 2017 से जून 2018) की तुलना में 80वें दौर में काफी बढ़ गया है। देश के ग्रामीण क्षेत्रों में यह अनुपात लगभग दोगुना होकर 6.8 फीसदी से बढ़कर 12.2 फीसदी हो गया। वहीं, शहरी भारत में यह 9.1 फीसदी से बढ़कर 14.9 फीसदी तक पहुंच गया।

निजी स्वास्थ्य सेवाओं का बढ़ता दबदबा: एनएसएस के ताजा अनुमानों के मुताबिक देश के ग्रामीण क्षेत्र में अस्पताल में भर्ती हुए बिना इलाज कराए गए मामलों में से 65.4 फीसदी का इलाज, निजी स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं ने किया। शहरी भारत में यह आंकड़ा और अधिक, 74.8 फीसदी रहा। हालांकि, राज्यों के बीच इस मामले में काफी अंतर दिखाई देता है। ओडिशा के ग्रामीण क्षेत्रों में इलाज कराए गए 60.9 फीसदी मामलों में सरकारी स्वास्थ्य केंद्रों की भूमिका रही। तमिलनाडु और छत्तीसगढ़ में भी सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग 50 फीसदी से अधिक रहा। इसके विपरीत, पंजाब के ग्रामीण क्षेत्रों में केवल 15.8 फीसदी मामलों में सरकारी स्वास्थ्य सुविधाओं का सहारा लिया गया। कई अन्य राज्यों में भी यह अनुपात एक-चौथाई से कम रहा।

ये आंकड़े बताते हैं कि सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग केवल लोगों की आय या उनके भौगोलिक क्षेत्र पर निर्भर नहीं करता। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि सरकारी अस्पताल कितनी आसानी से उपलब्ध हैं, वहां इलाज के लिए कितना इंतजार करना पड़ता है, लोगों को वहां की सेवाओं की गुणवत्ता कैसी लगती है और सरकारी स्वास्थ्य सुविधाओं का कितना विस्तार किया जा रहा है।

इलाज के खर्च में भारी अंतर: अस्पताल में भर्ती हुए बिना किसी बीमारी का इलाज कराने पर देश में अपनी जेब से किया जाने वाला औसत खर्च, ग्रामीण क्षेत्रों के सरकारी स्वास्थ्य केंद्रों में 304 रुपये और शहरी क्षेत्रों के सरकारी स्वास्थ्य केंद्रों में 257 रुपये था। इसके मुकाबले निजी स्वास्थ्य केंद्रों में यही खर्च ग्रामीण क्षेत्रों में 1,541 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 1,343 रुपये रहा। राज्यों के बीच भी इलाज के खर्च में बड़ा अंतर है। तमिलनाडु के शहरी क्षेत्रों में सरकारी अस्पताल में इलाज का औसत खर्च 47 रुपये था जबकि बिहार में यह 830 रुपये रहा। निजी अस्पतालों में यह खर्च केरल में 834 रुपये से लेकर बिहार में 3,509 रुपये तक था। इससे स्पष्ट होता है कि बीमार पड़ने पर होने वाला खर्च केवल इस बात से तय नहीं होता कि मरीज सरकारी अस्पताल में जाता है या निजी अस्पताल में बल्कि मरीज किस राज्य में रहता है, यह भी इलाज की लागत को प्रभावित करता है।

अस्पताल में भर्ती होने की बढ़ती लागत: अस्पताल में भर्ती होकर इलाज कराने की स्थिति में आर्थिक बोझ कहीं अधिक बढ़ जाता है। प्रसव को छोड़कर, अस्पताल में भर्ती होने पर हरेक मरीज द्वारा अपनी जेब से किया जाने वाला औसत खर्च देश के ग्रामीण क्षेत्रों में करीब 31,484 रुपये और देश के शहरी क्षेत्र में 38,688 रुपये था। निजी अस्पतालों में औसतन यह खर्च, ग्रामीण क्षेत्रों में औसतन 47,710 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 54,999 रुपये तक पहुंच गया। इसके विपरीत, सरकारी अस्पतालों में यही खर्च क्रमशः 6,905 रुपये और 6,032 रुपये था।

जब अचानक अस्पताल का भारी बिल सामने आता है तब परिवार के पास सीमित विकल्प ही बचते हैं। वह कर्ज ले सकता है, रोजमर्रा की जरूरी जरूरतों पर होने वाला खर्च कम कर सकता है या अपनी आय का साधन बनने वाली संपत्ति बेचने के लिए मजबूर हो सकता है। इस तरह गरीबी रेखा के आसपास जीवन बिताने वाले परिवारों के लिए गंभीर बीमारी आर्थिक संकट बन सकती है, जिससे उबरना आसान नहीं होता। इस स्थिति को इलाज के खर्च से गरीबी के जाल में फंसना कहा जाता है। बिहार और उत्तर प्रदेश जैसे आर्थिक रूप से कमजोर राज्यों में यह खतरा अधिक है। इन राज्यों में परिवारों की आमदनी अपेक्षाकृत कम होने के बावजूद निजी स्वास्थ्य सेवाओं पर निर्भरता काफी अधिक है।

स्वास्थ्य बीमा पर्याप्त नहीं: इस स्थिति में आयुष्मान भारत जैसी योजनाओं की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण हो जाती है जिससे लोगों की वित्तीय सुरक्षा में सुधार दिखेगा। लेकिन केवल स्वास्थ्य बीमा का कार्ड होने से उन समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता जो आसपास सरकारी अस्पताल या स्वास्थ्य केंद्र के मौजूद न होने से पैदा होती है। इसी तरह, बीमा अपने आप यह सुनिश्चित नहीं कर सकता कि मरीज को जरूरी दवाएं, जांच की सुविधाएं, डॉक्टर और प्राथमिक स्तर पर गुणवत्तापूर्ण इलाज उपलब्ध हो। सर्वेक्षण के अनुसार, स्वास्थ्य बीमा और वित्तीय सहायता योजनाओं का दायरा बढ़ा है। इसके बावजूद, लोगों को अपनी जेब से स्वास्थ्य सेवाओं पर काफी पैसा खर्च करना

पड़ रहा है। सर्वेक्षण के आंकड़े एक व्यापक समस्या की ओर इशारा करते हैं। भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के खर्च को पूरा करने के लिए बीमा और वित्तीय सहायता का ढांचा तेजी से बढ़ा है लेकिन सरकारी स्वास्थ्य सुविधाओं की रोजमर्रा की कार्यक्षमता को मजबूत करने की रफ्तार उतनी तेज नहीं है।

आगे की राह: भारत को अपने सार्वजनिक स्वास्थ्य तंत्र को हर स्तर पर मजबूत करने की जरूरत है। आयुष्मान आरोग्य मंदिरों से लेकर जिला अस्पतालों तक ऐसी सुविधाएं तैयार करनी होंगी, जहां मरीजों को समय पर और गुणवत्तापूर्ण इलाज मिल सके। सार्वभौमिक बीमा स्वास्थ्य कवरेज का अर्थ यह होना चाहिए कि इलाज के लिए किसी परिवार की आर्थिक सुरक्षा दांव पर न लगानी पड़े।

जनसत्ता

Date: 20-10-26

थाली में रसायन से सेहत पर संकट

महेंद्र कुमार कुशवाह



हरित क्रांति के बाद कृषि उत्पादन बढ़ाने में रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उस दौर में खाद्य सुरक्षा के लिए इनका इस्तेमाल जरूरी समझा गया। समस्या तब शुरू हुई, जब रासायनिक कृषि उत्पादन बढ़ाने का स्थायी उपाय मान ली गई। कीट नियंत्रण और अधिक पैदावार की होड़ में अनेक जगहों पर कीटनाशकों का जरूरत से ज्यादा इस्तेमाल होने लगा। इनके अवशेष मिट्टी, पानी और खाद्य पदार्थों तक पहुंचे। लंबे समय तक कुछ कीटनाशकों के संपर्क और कैंसर समेत अन्य

स्वास्थ्य समस्याओं के बीच संबंध को लेकर अनेक अध्ययन सामने आए हैं।

वर्ष 2024 में प्रकाशित एक अमेरिकी अध्ययन ने भी कृषि क्षेत्रों में कीटनाशकों के संपर्क और कुछ कैंसर के जोखिम के बीच संबंध की ओर ध्यान खींचा। विशेष रूप से नॉन-हॉजकिन लिंफोमा, ल्यूकेमिया और मूत्राशय के कैंसर को लेकर जोखिम पर चर्चा हुई। हालांकि ऐसे अध्ययनों को इस अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए कि किसी व्यक्ति को कैंसर केवल कीटनाशकों के कारण हुआ। कैंसर एक बहुकारकीय बीमारी है और आनुवंशिकता, तंबाकू, शराब, मोटापा, संक्रमण, प्रदूषण तथा जीवनशैली जैसे अनेक कारक मिलकर जोखिम बढ़ा सकते हैं।

भारत में पंजाब के मालवा क्षेत्र को लेकर भी लंबे समय से चिंता व्यक्त की जाती रही है। कृषि रसायनों के व्यापक इस्तेमाल, भूजल प्रदूषण और कैंसर के मामलों के बीच संभावित संबंध पर कई अध्ययन हुए हैं। इस क्षेत्र को आमतौर पर 'कैंसर बेल्ट' भी कहा जाता है। मगर वैज्ञानिक दृष्टि से किसी इलाके में कैंसर की अधिकता का कारण केवल कीटनाशकों को मान लेना उचित नहीं होगा। फिर भी यदि मिट्टी, पानी और भोजन में रासायनिक अवशेष लगातार पाए जाते हैं तो सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिहाज से इसकी गंभीर जांच और निगरानी जरूरी है।

कीटनाशकों के बाद दूसरी बड़ी चुनौती प्लास्टिक है। कभी आधुनिकता और सुविधा का प्रतीक रहा प्लास्टिक आज पर्यावरणीय संकट का प्रमुख कारण बन चुका है। भोजन की पैकेजिंग, पानी की बोतल, टिफिन, घरेलू सामान और चिकित्सा उपकरणों से लेकर कपड़ों तक इसका इस्तेमाल हो रहा है। प्लास्टिक के टूटने से बनने वाले बेहद छोटे कण (माइक्रोप्लास्टिक और नैनोप्लास्टिक), अब केवल समुद्र, मिट्टी और हवा में ही नहीं, बल्कि मानव शरीर के विभिन्न हिस्सों में भी पाए गए हैं। रक्त, फेफड़ों, प्लेसेंटा और अन्य ऊतकों में इनकी मौजूदगी की रिपोर्टों ने वैज्ञानिकों की चिंता बढ़ाई है।

हालांकि मानव शरीर में माइक्रोप्लास्टिक मिलना और किसी खास कैंसर के बीच सीधा कारणात्मक संबंध अभी पूरी तरह स्थापित नहीं हुआ है। लेकिन प्रयोगशाला और प्रारंभिक मानव अध्ययनों में इन कणों से कोशिकीय सूजन, ऑक्सीडेटिव तनाव और अन्य जैविक बदलावों की संभावनाएं सामने आई हैं। यही कारण है कि प्लास्टिक को केवल पर्यावरण की समस्या मानकर छोड़ देना पर्याप्त नहीं है। यह सार्वजनिक स्वास्थ्य का भी प्रश्न बन चुका है। प्लास्टिक से जुड़े कुछ रसायन चिंता का एक और कारण हैं। बिसफेनॉल-ए और कुछ थैलेट्स जैसे रसायनों को अंतःस्रावी तंत्र को प्रभावित करने वाले रसायनों की श्रेणी में रखा जाता है। ये शरीर के हार्मोन तंत्र में हस्तक्षेप कर सकते हैं। विशेष चिंता उन जीवन-चरणों को लेकर है, जब शरीर तेजी से विकसित हो रहा होता है। बचपन, किशोरावस्था और गर्भावस्था के दौरान ऐसे रसायनों के लगातार संपर्क के दीर्घकालिक प्रभावों को लेकर वैज्ञानिक अध्ययन जारी हैं।

इस पूरी बहस का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि कैंसर को केवल अस्पताल में होने वाली बीमारी मानकर उससे नहीं लड़ा जा सकता। कैंसर की शुरुआत कोशिकीय स्तर पर होती है और कई बार बीमारी सामने आने से वर्षों पहले शरीर में जैविक बदलाव शुरू हो जाते हैं। इसलिए रोकथाम का अर्थ केवल समय पर जांच और उपचार नहीं, बल्कि उन पर्यावरणीय और जीवनशैली संबंधी जोखिमों को कम करना भी है, जिन्हें समाज नियंत्रित कर सकता है।

व्यक्तिगत स्तर पर कुछ सावधानियां अपनाई जा सकती हैं। गर्म भोजन को लंबे समय तक ऐसे प्लास्टिक बर्तनों में नहीं रखना चाहिए, जो खाद्य उपयोग के लिए सुरक्षित न हों। माइक्रोवेव में केवल निर्माता द्वारा स्पष्ट रूप से उपयुक्त बताए गए कंटेनर ही इस्तेमाल किए जाने चाहिए। भोजन और पानी के लिए कांच या स्टेनलेस स्टील जैसे विकल्प अपनाना बेहतर हो सकता है। फल-सब्जियों को बहते पानी में अच्छी तरह धोना चाहिए। किसी

घरेलू घोल से कीटनाशक के अवशेष पूरी तरह समाप्त हो जाएंगे, ऐसा मानना ठीक नहीं है। असली समाधान सुरक्षित कृषि पद्धतियों और प्रभावी खाद्य निगरानी में है।

सरकार की भूमिका इससे कहीं बड़ी है। बाजार में बिकने वाले फल, सब्जियों, अनाज और प्रसंस्कृत खाद्य पदार्थों में रासायनिक अवशेषों की नियमित जांच होनी चाहिए। प्रतिबंधित और अत्यधिक जोखिम वाले कीटनाशकों के इस्तेमाल पर कठोर निगरानी जरूरी है। केवल कानून बना देना पर्याप्त नहीं; खेत से बाजार तक निगरानी की पूरी व्यवस्था को मजबूत करना होगा। किसानों को कम रसायन वाली खेती, जैविक विकल्प और एकीकृत कीट प्रबंधन की तकनीक उपलब्ध करानी होगी। इसके लिए प्रशिक्षण, बाजार और आर्थिक सहायता जरूरी है। किसान को दोषी ठहराने के बजाय ऐसी व्यवस्था बनानी होगी जिसमें सुरक्षित खेती उसके लिए आर्थिक रूप से भी व्यवहार्य हो।

इसके लिए एकल-उपयोग प्लास्टिक पर लागू नियमों की सख्ती से निगरानी, उत्पादकों की जवाबदेही और पर्यावरण के अनुकूल पैकेजिंग के विकल्प जरूरी हैं। साथ ही माइक्रोप्लास्टिक के स्वास्थ्य प्रभावों पर भारत में बड़े और दीर्घकालिक अध्ययन होने चाहिए। अभी उपलब्ध वैज्ञानिक प्रमाणों को न तो नजरअंदाज किया जा सकता है और न ही उनसे ऐसे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, जिन्हें विज्ञान ने अभी सिद्ध नहीं किया है। कैंसर के बदलते पैटर्न की चिंता हमें एक व्यापक सवाल तक ले जाती है, हम किस तरह का विकास चाहते हैं? अगर अधिक उत्पादन, अधिक पैकेजिंग और अधिक उपभोग की कीमत स्वच्छ हवा, सुरक्षित पानी और स्वस्थ भोजन से चुकानी पड़े, तो विकास की यह परिभाषा आखिर किसके लिए है? प्रकृति और मानव स्वास्थ्य को अलग-अलग खानों में रखकर अब सार्वजनिक नीति नहीं बनाई जा सकती।

कैंसर के खिलाफ लड़ाई केवल अस्पताल, दवाओं और महंगे उपचार की लड़ाई नहीं है। यह खेत से रसोई तक सुरक्षित भोजन की, उद्योग से बाजार तक जिम्मेदार उत्पादन की और सरकार से नागरिक तक जवाबदेही की लड़ाई भी है। थाली में मौजूद हर चीज को 'जहर' कहना अतिशयोक्ति होगी, लेकिन संभावित जोखिमों को नजरअंदाज करना भी समझदारी नहीं। आने वाली पीढ़ियों को स्वस्थ रखना है तो कैंसर की रोकथाम पर उतना ही जोर देना होगा जितना उसके इलाज पर। इस लड़ाई की शुरुआत अस्पताल से पहले खेत, बाजार और हमारी अपनी रसोई से होनी चाहिए।

हमें एआई के सदुपयोग में सबसे आगे रहना होगा

नितिन पाई, (निदेशक, तक्षशिला संस्थान)



अगर आप कोई एआई कंपनी चला रहे हैं और पूंजी जुटाना चाहते हैं, तो निवेशकों को यह भरोसा दिलाना आपके हित में होगा कि जो सबसे पहले 'आर्टिफिशियल जनरल इंटेलिजेंस' (एजीआई) विकसित करेगा, दुनिया पर उसका हमेशा के लिए एकाधिकार हो जाएगा। इसी तरह, यदि आप उस देश के शासक हैं, जिसकी अर्थव्यवस्था या शेयर बाजार ऐसी ही कंपनियों पर निर्भर है, तो एआई तकनीक को एक 'दौड़' घोषित कर देना आपको फायदा पहुंचा सकता है। इसका मतलब यह कतई नहीं कि एआई वास्तव में एक दौड़ है।

जब बताया जाता है कि पिछली सदी की परमाणु व अंतरिक्ष दौड़ ने न तो नए खिलाड़ी को आने से रोका और न ही किसी देश को

निर्णायक बढ़त दिलाई, तो एआई होड़ के समर्थक कहते हैं कि इस बार मामला अलग है, क्योंकि एआई खुद से बेहतर एआई बना सकता है। और, खुद को सुधारने की यह क्षमता ही इस तकनीक को दूसरों से अलग बनाती है। यह तर्क दमदार तो है, पर इसे साबित करने के लिए कुछ शर्तों को पूरा करना होगा- एआई की क्षमता में होने वाली वृद्धि बड़े पैमाने पर होनी चाहिए; यह वृद्धि इतनी तीव्र हो कि दूसरों तक इसके पहुंचने की गति इसके बढ़ने की गति से कम रहे; और फिर आगे चलकर इसकी विकास-गति धीमी न पड़े। अभी तो प्रभावशाली उपलब्धियों को ही इस दावे का ठोस प्रमाण माना जा रहा है कि हमारे पास ऐसी एआई तकनीक हो सकती है, जो बाकी सभी एआई को खत्म कर देगी।

दरअसल, किसी भी दौड़ के लिए तीन शर्तें जरूरी हैं- पहली, लक्ष्य स्पष्ट हो; दूसरी, सबसे पहले पहुंचने पर बड़ा लाभ मिले; और तीसरी, यह लाभ दूसरा न हासिल कर सके। एआई के मामले में ये तीनों शर्तें पूरी नहीं होतीं। कुछ लोग एजीआई को अंतिम लक्ष्य मानते हैं, पर इसकी स्पष्ट परिभाषा अब तक नहीं बनी है। यह भी साफ नहीं है कि सबसे पहले विकसित करने वाली कंपनी को ही इसका पूरा लाभ मिलेगा। इसलिए संभव है कि एजीआई तक पहुंचने के बाद हमें यह एहसास हो कि यह अंतिम लक्ष्य नहीं, बल्कि लगातार आगे खिसकता क्षितिज है।

एआई को दौड़ कहना गलत क्यों है? अगर इसमें केवल निजी निवेशकों का पैसा लगा होता, तो बात अलग थी, लेकिन दुनिया भर की सरकारें इस होड़ में शामिल होने के लिए जनता का पैसा, जमीन, पानी, ऊर्जा जैसे संसाधन खर्च कर रही हैं। जबकि, इन संसाधनों का इस्तेमाल आर्थिक विकास, राष्ट्रीय ताकत और प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए कहीं अधिक प्रभावी ढंग से किया जा सकता है। एआई को दौड़ बताने से इसे सुरक्षा और भू-राजनीति से जोड़कर देखा जाने लगा है, नतीजतन ऐसी नीतियां बनने लगी हैं, जिनसे तकनीकी क्षेत्र पर भी बंदिशें, निर्यात-नियंत्रण या प्रतिबंध लगाए जा रहे हैं। अमेरिका में तो विमान, दवाएं, यहां तक कि पैकेटबंद खाद्य पदार्थ भी सुरक्षा प्रमाणन के बिना बाजार में नहीं उतारे जा रहे। मगर यह देखना दिलचस्प है कि एआई प्रयोगशालाएं सुरक्षा संबंधी चिंताओं के कारण अपने अगले मॉडल की रिलीज को टाल देती हैं। उनको इस तरह की छूट 'दौड़' की मौजूदा अवधारणा के कारण ही मिलती है।

भारत को इस होड़ से बचना चाहिए। देश में सरकारी खर्च से एआई का विकास हो सकता है, लेकिन इसलिए नहीं कि हमें अमेरिका और चीन से मुकाबला करना है। भारत का नीतिगत जोर एआई को तेजी से अपनाने और उसे अधिक से अधिक जरूरतमंदों तक पहुंचाने पर होना चाहिए। इससे हमें वैश्विक बढ़त मिल सकती है, क्योंकि किसी भी नई तकनीक का असली लाभ तभी मिलता है, जब उसका व्यावहारिक इस्तेमाल होने लगे। बिजली को व्यापक रूप से अपनाने में दशकों लगे थे, लेकिन एआई के मामले में यह प्रक्रिया तेज हो सकती है, बशर्ते सही सरकारी नीतियां बनें। भारत को ऐसा बुनियादी ढांचा बनाना होगा कि एआई का मौजूदा बुलबुला फूटने के बाद भी वह उपयोगी बना रहे।

अर्थशास्त्री विलियम नार्डहॉस के मुताबिक, रेल, विमानन और इंटरनेट जैसी पिछली तकनीकी खोजों से पैदा हुए कुल मूल्य का महज दो प्रतिशत हिस्सा ही इनको बनाने वाली कंपनियों को मिला, बाकी लाभ उपभोक्ताओं और इन तकनीकों का इस्तेमाल करने वाले कारोबारों ने उठाया। यह तथ्य हमें नहीं भूलना चाहिए।
